1. मॉड्यूल और इसकी संरचना का विवरण

मॉड्यूल विवरण	
विषय नाम	अर्थशास्त्र
पाठ्यक्रम का नाम	भारतीय आर्थिक विकास 01 (कक्षा XI, सेमेस्टर - 1)
मॉड्यूल का नाम / शीर्षक	भारतीय अर्थव्यवस्था (1950-1990) - भाग 1
मॉड्यूल Id	keec_10201
पूर्वअपेक्षित ज्ञान	आर्थिक वृद्धि , विकास, अर्थव्यवस्था के क्षेत्र आदि की जानकारी,एवम 1950 तक भारतीय अर्थव्यवस्था विकास के पैटर्न से परिचय।
उद्देश्य	इस पाठ के अध्ययन के बाद, शिक्षार्थी निम्नलिखित को समझने में सक्षम होंगे: • पंचवर्षीय योजनाओं का अर्थ, उनके लक्ष्य और उपलब्धियाँ • विभिन्न क्षेत्रों में विकास नीतियां, विशेष रूप से उद्योग और कृषि • सार्वजनिक क्षेत्र और सरकारी नियमों के गुण तथा सीमाएं
मुख्य शब्द	योजना, समाजवाद, पूंजीवाद, मिश्रित अर्थव्यवस्था, आधुनिकीकरण,वृद्धि, इक्विटी, भूमि सुधार, हरित क्रांति, सब्सिडी,आयात प्रतिस्थापन, सार्वजनिक क्षेत्र

2. Development Team

Role	Name	Affiliation
National MOOC Coordinator (NMC)	Prof. Amarendra P. Behera	CIET, NCERT, New Delhi
Program Coordinator	Dr. Mohd. Mamur Ali	CIET, NCERT, New Delhi
Course Coordinator (CC) / PI	Prof. Neeraja Rashmi	DESS, NCERT, New Delhi
Subject Matter Expert (SME)	Dr. Janmejoy Khuntia	School of Open Learning, University of Delhi
Review Team	Dr. Meera Malhan	DCAC, University of Delhi
Translator	Dr. Anita Arora	Principal, Jyoti B.Ed. College Rampura, Punjab

विषय-सूची:

शिक्षार्थी, इस अध्याय का अध्ययन करने के बाद निम्नांकित समझ सकेंगे:

- योजना का अर्थ
- आर्थिक प्रणालियों के प्रकार,
- पंचवर्षीय योजनाएं, भारतीय आर्थिक विकास में उनकी भूमिका।
- कृषि और औद्योगिक विकास में रुझान और मुद्दे

परिचय

औपनिवेशिक शासन के लगभग दो सौ वर्षो के बाद, भारत को 1947 में स्वतंत्रता मिली, उस समय अर्थव्यवस्था खस्ताहाल थी| दो सौ साल के ब्रिटिश शासन ने अर्थव्यवस्था की दुर्दशा कर थी। हमारे योजनाकारों के समक्ष यह एक बड़ा सवाल था कि किस तरह की आर्थिक प्रणाली हमारी अर्थव्यवस्था के लिए सबसे उपयुक्त होगी। दो तरह की आर्थिक व्यवस्थाएँ थीं- पूंजीवाद और समाजवाद। पंडित नेहरू का झुकाव पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की बजाय समाजवादी अर्थवयवस्था की तरफ था, वह नहीं चाहते थे कि यह भूत- पूर्व सोवियत संघ में स्थापित समाजवाद के जैसा हो, जहां सभी संसाधनों का स्वामित्व सरकार के पास था और सभी प्रकार का आर्थिक नियोजन भी सरकार द्वारा किया जाता था। ऐसी प्रणाली में निजी संपत्ति का कोई अधिकार नहीं था। किन्तु भारत जैसे लोकतान्त्रिक देश में, सरकार के लिए नागरिको के भू स्वामित्व तथा अन्य सम्पत्तियो के प्रातिमानों को, भूतपूर्व सोवियत संघ की भांति परिवर्तित करना संभव नहीं था। अतः, हमारे योजनाविदों ने पूंजीवादी और समाजवादी अतिवादी स्वरुप का विकल्प खोजा। मूल रूप सेसमाजवादी दृष्टिकोणके प्रति सहानुभूति के कारण, उन्होंने उस प्रणाली को खोजा जिसमें दोनों प्रतिमानों की श्रेष्ठ विशेषताएं थीं, अर्थात, ऐसी व्यवस्था जिसमे समाजवादी और पूंजीवादी प्रतिमानों का मिश्रण था । इस प्रकार, भारत एक मजबूत सार्वजनिक क्षेत्र के साथ , निजी संपत्ति और लोकतंत्र के अधिकारों से युक्त समाजवादी राष्ट्र बना। सरकार अर्थव्यवस्था हेतु नियोजन के प्रयासों में निजी क्षेत्र की सहभागिता को प्रोत्साहित करने के लिए योजनाएं बनाएगी। 1948 की औद्योगिक नीति संकल्प 'और भारतीय संविधान के "नीति-निर्देशकसिद्धान्तों ने भी इस दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित कियाहै ।1950 में, योजना आयोग की स्थापना की गई थी, प्रधानमंत्रो इसके अध्यक्ष थे.

प्रत्येक समाज को तीन प्रश्नों के उत्तर देने होते हैं-

1. देश में किन वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन किया जाए?

2.वस्तुएँ और सेवाएँ किस प्रकार उत्पादित की जाएँ?

3. उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का विभिन्न व्यक्तियों के बीच किस प्रकार वितरण किया जाना चाहिए?

इन सभी प्रश्नों का एक उत्तर तो माँग और पूर्ति का बाजार की शक्तियों पर निर्भर करता है। बाजार अर्थव्यवस्था में, जिसे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था भी कहते है, उन्हीं उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन होता है जिनकी बाजारमें माँग है। यदि कारों की माँग है तो कारों का उत्पादन होगा और साइकिलों की माँग है तो साइकिलों का उत्पादन होगा। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादित वस्तुओं का विभिन्न व्यक्तियों के बीच वितरण, उनकी आवश्यकताओं वेफ अनुसार नहीं होता। अधिकांश विभाजन इस आधार पर होता है कि व्यक्तियों की क्रय- क्षमता कितनी है, और वे किन वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने की क्षमता रखते हैं। यदि वे दवा का खर्च नहीं उठा सकते हैं, अगर उन्हें इसकी तत्काल आवश्यकता हो तो भी इसका उपयोग नहीं कर पाएंगे। ऐसा समाज जवाहर लाल नेहरू को मान्य नहीं था ।

एक समाजवादी समाज तीन प्रश्नों का उत्तर बिल्कुल अलग तरीके से देता है। एक समाजवादी समाज में सरकार यह तय करती है कि समाज की ज़रूरतों के अनुसार कौन से सामान का उत्पादन किया जाए।सरकार यह भी तय करती है कि माल का उत्पादन कैसे किया जाए और उन्हें कैसे वितरित किया जाए। सैद्धांतिक रूप में, समाजवाद के तहत वितरण के आधार ये माना जाता है कि लोगों को क्या चाहिए और न कि, उनकी क्रय शक्ति के आधार पर ।पूंजीवाद के विपरीत, उदाहरण के लिए, एक समाजवादी राष्ट्र नागरिकों को स्वास्थ्य सुविधाएं निःशुल्क सुलभ करवाता है जिन्हे उन की आवश्यकता होती है। जबकि ,एक समाजवादी समाज के पास कोई निजी संपत्ति नहीं होती क्योकि सब कुछ राज्य के स्वामित्व में होता है।

आजकल, अधिकांश अर्थव्यवस्थाएं मिश्रित अर्थव्यवस्थाएं हैं, अर्थात्, सरकार और बाजार एक साथ तीनों प्रश्नों के उत्तर देंते है कि क्या उत्पादन करना है, कैसे उत्पादन करना है और उत्पादन का वितरित कैसे करना है। मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में बाजार उन्हीं वस्तुओं और

सेवाओं को सुलभ कराता है, जिसका वह सही उत्पादन कर सकता है तथा सरकार उन आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं को सुलभ कराती है, जिन्हें बाजार सुलभ कराने में विफल रहता है।

योजना क्या है?

योजना इसकी व्याख्या करती है कि किसी देश के संसाधनों का प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए। योजना के कुछ सामान्य तथा कुछ विशेष उद्देश्य होते हैं, जिनको एक निर्दिष्ट समयावधि में प्राप्त करना होता है। भारत में योजनाएँ पाँच वर्ष की अवधि की होती थी और इसे पंचवर्षीय योजनाएँ कहा जाता था। हमारे योजना के प्रलेख में केवल पाँच वर्ष की योजना अवधि में प्राप्त किये जाने वाले उद्देश्यों का ही उल्लेख नहीं किया गया, अपितु उनमें आगामी बीस वर्षों में प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्यों का भी उल्लेख होता है। इस दीर्घकालिक योजना को परिप्रेक्ष्यात्मक योजना कहते हैं। पंचवर्षीय योजनाओं से परिप्रेक्ष्यात्मक योजनाओं के लिए आधार प्राप्ति की अपेक्षा की जाती है।

वस्तुतः विभिन्न लक्ष्यों में कुछ अंतर्द्वद्व भी हो सकता है।क्योंकि सभी योजनाओं में उसके सभी लक्ष्यों को एक समान महत्त्व दिया जाना कठिन होता है । उदाहरण के लिए, आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रारम्भ का लक्ष्य ,रोजगार बढ़ाने के लक्ष्य के विरुद्ध हो सकता है, यदि प्रौद्योगिकी श्रम की आवश्यकता को कम करती हैं । भारत की विभिन्न योजनाओं में अलग-अलग लक्ष्यों पर बल दिया गया है।

भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ यह नहीं बतातीं थी कि प्रत्येक वस्तु और सेवा का कितना उत्पादन किया जाएगा। यह न तो संभव है और न ही आवश्यक (पूर्व सोवियत संघ ने यह कार्य करने का प्रयास किया था और वह पूरी तरह विफल रहा)। अतः इतना ही पर्याप्त है कि योजनाएँ उन्हीं क्षेत्रों के विषय में स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित किये जाएं जिनमें उनकी महत्वपूर्ण भूमिका हो, जैसे विद्युत् उत्पादन और सिंचाई आदि। शेष को बाजार पर छोड़ दिया जाना ही अधिक श्रेयस्कर रहता है।

पंचवर्षीय योजनाएँ

इन पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से, सरकार ने अर्थव्यवस्था को धीरे-धीरे निरंतर आर्थिक विकास के पथ पर लाने का प्रयास किया है। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद, पहली चीज अर्थव्यवस्था को पुनर्गठित करना था। अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्र बुरी स्थिति में थे, और व्यापक विकास के लिए, योजना आयोग ने विस्तृत पंचवर्षीय योजनाओं का मसौदा तैयार करना शुरू किया। चूंकि संसाधन बेहद सीमित थे, इसलिए एक ही समय में सभी सामाजिक और आर्थिक महत्वाकांक्षाओं को कार्यान्वित किया जाना कठिन था। हमारे योजनाकारों के लिए सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों को प्राथमिकता देना आवश्यक था। इस प्रकार, कुछ विशिष्ट लक्ष्यों को आगे बढ़ाने के लिए पांच साल की योजना बनाई गई है। इन योजनाओं के चार सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य थे: संवृद्धि, आधुनिकीकरण, आत्मनिर्भरता और साम्यता। आइए एक-एक करके इन लक्ष्यों पर चर्चा करें।

संवृद्धिः इसका अर्थ है देश में वस्तुओं और सेवाओं की उत्पादन क्षमता में वृद्धि।सामान्य शब्दों में यह एक निश्चित समय अवधि सामान्यतया एक वर्ष में सकल घरेलू उत्पाद (जी-डी-पी-) में होने वाली वृद्धि दर है। जी-डी-पी- एक वर्ष की अवधि में देश में हुए सभी वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन का बाजार मूल्य होता है। यदि जी-डी-पीको एक केक मान लिया जाए तो संवृद्धि का अर्थ इसके आकार में हुइ वृद्धि से होगा। यदि केक बड़ा होगा तो अधिक लोग उपभोग कर पाएँगे। उच्च विकास दर से अभिप्राय उत्पादक पूँजी के अधिक भंडार या परिवहन बैंकिग आदि सहायक सेवाओं का विस्तार या उत्पादक पूंजी तथा सेवाओं की दक्षता में वृद्धि से है। देश का सकल घरेलू उत्पाद देश की अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त होता है। ये क्षेत्र हैं- कृषि क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र और सेवा क्षेत्र। इन क्षेत्रों के योगदान से ही अर्थव्यवस्था का ढाँचा तैयार होता है। विकासशील देशों में कृषि क्षेत्र का विकास सकल घरलू उत्पाद की वृद्धि में अधिक योगदान होता है जबकि विकसित देशों में, सेवा क्षेत्र का योगदान सकल घरेलू उत्पाद (जी-डी-पी-) में अधिक होता है।

सेवा क्षेत्र

सेवा क्षेत्र भारतीय आर्थिक विकास का प्रमुख घटक है। सामान्यतः विकास के साथ-साथ सकल

घरेलू उत्पाद में कृषि का अंश कम होता है और उद्योगों का अंश प्रधान होता है। विकास के उच्चतर स्तर पर पहुँच कर जी-डी-पी- में सेवाओं का अंशदान अन्य दोनों क्षेत्रकों से अधिक हो जाता है। भारत में जैसा कि एक गरीब देश में अपेक्षा की जाती है जी-डी-पी- में कृषि का अंश 50 प्रतिशत से अधिक था। किंतु 1990 में सेवा क्षेत्रक का अंश बढ़कर 40-59 प्रतिशत हो गया- यह कृषि तथा उद्योग दोनों से ही अधिक था। ऐसी स्थिति तो प्रायः विकसित देशों में ही पायी जाती है। सेवा क्षेत्र के अंश की वृद्धि 1991 के बाद की अवधि में तो यह प्रवृत्ति और बढ़ गई।

आधुनिकीकरण: आधुनिकीकरण पारंपरिक, ग्रामीण, कृषि समाज से आधुनिक, शहरी, और औद्योगिक समाज में परिवर्तन है। उत्पादकों, निर्माताओं को वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन बढ़ाने के लिए नई तकनीक अपनानी पड़ती है। उदाहरण के लिए, एक किसान पुरानी विधिओ के उपयोग के बजाय नई उत्पादन तकनीकों, बीज किस्मों का उपयोग करके खेत में उत्पादन बढ़ा सकता है। इसी तरह, एक कारखाना मालिक नए प्रकार की मशीनों का उपयोग करके उत्पादन में वृद्धि कर सकता है नई तकनीक को अपनाने को आधुनिकीकरण कहा जाता है। हालांकि, आधुनिकीकरण केवल नवीन प्रौद्योगिकी के प्रयोग तक सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन भी है, जैसे यह स्वीकार करना कि महिलाओंका अधिकार भी पुरुषों के समान होना चाहिए।

परंपरागत समाज में नारी का कार्यक्षेत्र घर की सीमाओं तक सीमित मान लिया जाता है। जबकि पुरुष बाहर कार्य करते हैं आधुनिक समाज में नारी की प्रतिभाओं का घर से बाहर- बैंकों कारखानों विद्यालयों आदि, उन्हें पुरुषों के सामान ही उन्नति का अवसर दिया जाता है। ऐसे समाज ही, पूर्व-आधुनिक समाज से ज्यादा सभ्य और समृद्धिशाली होते है

आत्मनिर्भरता: इसका अर्थ है राष्ट्र की आर्थिक वृद्धि को बढ़ावा देने के लिए, देश के स्वयं के संसाधनों का उपयोग करना और दूसरे देशों से आयातित संसाधनों से बचना। हमारी प्रथम सात पंचवर्षीय योजनाओं में आत्मनिर्भरता को महत्त्व दिया गया, जिसका अर्थ है कि उन चीजों के आयात से बचा जाए, जिनका देश में ही उत्पादन संभव था। इस नीति को विशेषकर खाद्यान्न के लिए अन्य देशों पर निर्भरता कम करने के लिए आवश्यक समझा गया। इसके अतिरिक्त यह

आशंका भी थी कि आयातित खाद्यान्न, विदेशी प्रौद्योगिकी और पूँजी पर निर्भरता किसी न किसी रूप में हमारे देश की नीतियों में विदेशी हस्तक्षेप को बढ़ाकर हमारी संप्रभुता को खतरा हो सकता था।

समानताः केवल संवृद्धि, आधुनिकीकरण और आत्मनिर्भरता ,तीनों के द्वारा ही जनसामान्य के जीवन में सुधार नहीं आ सकता। यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि आर्थिक समृद्धि के लाभ देश के निर्धन वर्ग को भी सुलभ हों केवल धनी लोगों तक ही सीमित न रहें प्रत्येक भारतीय को भोजन, अच्छा आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाएँ जैसी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा कर पाने में समर्थ होना चाहिए और धन संपत्ति के वितरण की असमानताएँ भी कम होनी चाहिए। उपर्युक्त प्रमुख लक्ष्यों के अलावा, मानव संसाधन विकास, गरीबी उन्मूलन और पर्यावरण संरक्षण जैसे अन्य लक्ष्य भी थे

कृषि क्षेत्र

औपनिवेशिक शासन काल में कृषि क्षेत्र में न तो संवृद्धि हुई और न ही समता रह पाई। स्वतंत्र भारत के नीति-निर्माताओं को इन मुद्दों का समाधान उन्होंने भू-सुधारों द्वारा किया।

भूमि सुधार: भारत में भू-धारण प्रणाली में ज़मींदार, जागीरदार आदि को मध्यस्थों के रूप में जाना जाता था। ये खेतों में कोई सुधार किये बिना, मात्र लगान की वसूली किया करते थे। भारतीय कृषि क्षेत्र की निम्न उत्पादकता के कारण भारत को अन्य देशों से अनाज का आयात करना पड़ा। कृषि में समानता लाने के लिये भू-सुधारों की आवश्यकता हुई, जिसका मुख्य ध्येय जोतों के स्वामित्व में परिवर्तन करना था। देश में बिचौलियों के उन्मूलन तथा वास्तविक कृषकों को ही भूमि का स्वामी बनाने जैसे कदम उठाये गये। इसका उद्देश्य यह था कि भूमि का स्वामित्व किसानों को निवेश करने की प्रेरणा देगा बशर्ते उन्हें पर्याप्त पूँजी उपलब्ध कराई जाए।

भू-सीमा निर्धारण: भू-सीमा निर्धारण का उद्देश्य कृषि क्षेत्र में समता को बढ़ावा देना था। इसका अर्थ है कि एक व्यक्ति के स्वामित्व वाली भूमि कीअधिकतम सीमा तय करना। इसका उद्देश्य ,कुछ लोगों के हाथों में भूमि के स्वामित्व के संकेंद्रन को कम करना था। स्वामित्व ने काश्तकारों को उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन दिया और इसने कृषि में वृद्धि में योगदान दिया। हालांकि,समता के लक्ष्य को बिचौलियों के उन्मूलन द्वारा पूरी तरह से प्राप्त नहीं किया जा सका ,कानून की कमियों का लाभ उठाकर कुछ भूतपूर्व जमींदारों ने कुछ क्षेत्रें में बहुत बड़े-बड़े

भूखंडों पर अपना स्वामित्व बनाए रखा। कुछ मामलों में काश्तकारों को बेदखल कर दिया गया और भू-स्वामियों ने अपने किसान भू-स्वामी (वास्तविक कृषक) होने का दावा किया। कृषकों को भूमि का स्वामित्व मिलने के बाद भी निर्धनतम कृषि श्रमिकों (जैसे बटाईदार तथा भूमिहीन श्रमिक) को भूमि-सुधारों से कोई लाभ नहीं हुआ। अधिकतम भूमि सीमा निर्धारण कानून में भी बाधाएँ आईं। बड़े जमीदारों ने इस कानून को न्यायालयों में चुनौती दी, जिसके कारण इसे लागू करने में देर हुई। इस अवधि में वे अपनी भूमि निकट संबंधियों आदि के नाम कराकर कानून से बच गये। कानून में भी अनेक कमियाँ थी, जिनके द्वारा बड़े जमीदारों ने भूमि पर अधिकार बनाए रखने के लिए लाभ उठाया।केवल केरल और पश्चिम बंगाल की सरकारें वास्तविक किसान को भूमि देने की नीति के प्रति प्रतिबद्ध थीं, इसी कारण इन प्रांतों में भू-सुधार कार्यक्रमों को विशेष सफलता मिली।

हरित क्रांतिः स्वतंत्रता के समय देश की 75 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर आश्रित थी। इस क्षेत्र में उत्पादकता बहुत ही कम थी, क्योंकि पुरानी प्रौद्योगिकी का प्रयोग किया जाता था और अधिकतर किसानों के पास आधारिक संरचना का भी नितांत अभाव था। भारत की कृषि मानसून पर निर्भर है। यदि मानसून स्तर कम होता था तो किसानों को कठिनाई होती थी, क्योंकि उन्हें सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध न थीं।भारतीय कृषि, मानसून का जुआ के रूप में जाना जाता था।
औपनिवेशिक काल का कृषि गतिरोध हरित क्रांति से स्थायी रूप से समाप्त हो गया। इसका तात्पर्य **उच्च पैदावार वाली किस्मों के बीजों (HYV)** के प्रयोग से है, विशेषकर गेहूँ तथा चावल उत्पादन में वृद्धि से। इन बीजों के प्रयोग के लिए पर्याप्त मात्र में उर्वरकों, कीटनाशकों तथा निश्चित जल पूर्ति की भी आवश्यकता थी। इन आगतों का सही अनुपात में प्रयोग होना भी महत्त्वपूर्ण है। बीजों की अधिक पैदावार वाली किस्मों से लाभ उठाने वाले किसानों को सिंचाई की विश्वसनीय सुविधाओं और उर्वरकों तथा कीटनाशकों आदि की खरीदारी के लिए वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता थी। अतः हरित क्रांति के पहले चरण में (लगभग 1960 के दशक के मध्य से 1970 के दशक के मध्य तक) HYV बीजों का प्रयोग पंजाब, आंध्रप्रदेश और तमिलनाडु जैसे अधिक समृद्ध राज्यों तक ही सीमित रहा।

द्वितीय चरण (1970 के दशक के मध्य से 1980 के दशक के मध्य तक) में HYV बीजों की प्रौद्योगिकी का विस्तार कई राज्यों तक पहुँचा और कई फसलों को लाभ हुआ। इस प्रकार, हरित

क्रांति प्रौद्योगिकी के प्रसार से भारत को खाद्यान उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त हुई। कृषि उत्पाद में वृद्धि महत्वपूर्ण है, किन्तु पर्याप्त नहीं, यदि किसान बाजार में बेचने की जगह इस उत्पादन का अधिकांश भाग स्वयं ही उपभोग करें, तो अधिक उत्पादन से अर्थव्यवस्था पर कुल मिलाकर कोई फर्क नहीं पड़ेगा। दूसरी ओर, यदि किसान पर्याप्त मात्र में अपना उत्पादन बाजार में बेचें, तो अधिक उत्पादन का निश्चिय ही अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ सकता है। किसानों द्वारा उत्पादन का बाजार में बेचा गया अंश ही '**विपणन -अधिशेष**' कहलाता है। हरित क्रांति काल में किसान अपने गेहूँ और चावल के अतिरिक्त उत्पादन का अच्छा खासा भाग बाजार में बेच रहे थे, जैसा कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सी.एच. हनुमंत ने इंगित किया है। इसके फलस्वरूप खाद्यानों की कीमतों में, उपभोग की अन्य वस्तुओं की अपेक्षा, कमी आई। अपनी कुल आय के बहुत बड़े प्रतिशत का भोजन पर खर्च करने वाले निम्न आय वर्गों को कीमतों में इस सापेक्ष कमी से बहुत लाभ हुआ। हरित क्रांति के कारण सरकार पर्याप्त खाद्यान्न प्राप्त कर सुरक्षित (बफर) स्टॉक बना सकी जिसे खाद्यान्नों की कमी के समय प्रयोग किया जा सकता था।

पर इसमें प्रयुक्त प्रौद्योगिकी पूरी तरह से जोखिम मुक्त नहीं थी। एक जोखिम यह था कि इससे छोटे और बड़े किसानों के बीच असमानताएँ बढ़ने की संभावनाएँ थी, जो की इसके समानता के उद्देश्य का उलंघन था, क्योंकि केवल बड़े किसान अपेक्षित आगतों को खरीदने में सक्षम थे, जिससे उन्हें हरित क्रांति का अधिकांश लाभ प्राप्त हो जाता था। इसके अतिरिक्त, इन फसलों में कीटनाशकों के आक्रमण की भी संभावनाएं अधिक होती हैं। ऐसी दशा में, इस प्रौद्योगिकी को अपनाने वाले छोटे किसानों की फसल कासब कुछ नष्ट हो जाता है।सौभाग्यवश, सरकार द्वारा किए गये कुछ उपायों के कारण ये आशंकाएँ सत्य साबित नहीं हुईं। सरकार ने निम्न ब्याज दरपर छोटे किसानों को ऋण दिये और उर्वरकों पर आर्थिक सहायता दी, ताकि छोटे किसानों को ये आवश्यक आगत उपलब्ध हो सकें। छोटे किसानों को, इन आगतों के प्राप्ति से छोटे खेतों की उपज और उत्पादकता भी समय के साथ बड़े खेतों की पैदावार के बराबर हो गई। इस प्रकार, हरित क्रांति से छोटे-बड़े सभी किसानों को लाभ मिला। यदि सरकार ने इस प्रौद्योगिकी का लाभ छोटे किसानों को उपलब्ध कराने के लिए व्यापक प्रयास नहीं किये होते, तो इस हरित क्रांति का लाभ केवल धनी किसानों को ही मिलता।

अनुदान का विवाद

छोटे किसानों द्वारा विशेष रूप से नई HYV प्रौद्योगिकी को अपनाने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करने हेतु अनुदान दी जानी आवश्यक थी। किसान प्रायः किसी भी नई प्रौद्योगिकी को जोखिम पूर्ण समझते हैं। अतः किसानों द्वारा नई प्रौद्योगिकी की परख के लिये अनुदान आवश्यक था । कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि एक बार प्रौद्योगिकी का लाभ मिल जाने तथा उसके व्यापक प्रचलन के बाद अनुदान धीरे-धीरे समाप्त कर देना चाहिए, क्योंकि उनका उद्देश्य पूरा हो गया है। यही नहीं, यद्यपि अनुदान का ध्येय तो किसानों को लाभ पहुँचाना है, किंतु उर्वरक-अनुदान का लाभ बड़ी मात्र में प्रायः उर्वरक उद्योग तथा अधिक समृद्ध क्षेत्र के किसानों को ही पहुँचता है। अतः यह तर्क दिया जाता है कि उर्वरकों पर अनुदान जारी रखने का कोई औचित्य नहीं है। इनसे लक्षित समूह को लाभ नहीं होता और सरकारी कोष पर अनावश्यक भारी बोझ पड़ता है दूसरी ओर कुछ विशेषज्ञों का मत है कि सरकार को कृषि-अनुदान जारी रखनी चाहिए, क्योंकि भारत में कृषि एक बहुत ही जोखिम भरा व्यवसाय है। अधिकांश किसान बहुत गरीब हैं और अनुदान को समाप्त करने से वे अपेक्षित आगतों का प्रयोग नहीं कर पाएँगे। सहायिकी समाप्त करने से गरीब और अमीर किसानों के बीच असमानता और बढ़ेगी तथा समता के लक्ष्य का उल्लंघन होगा। इन विशेषज्ञों का तर्क है कि यदि सहायिकी से बड़े किसानों तथा उर्वरक उद्योग को अधिक लाभ हो रहा है, तो सही नीति सहायिकी समाप्त करना नहीं, बल्कि ऐसे कदम उठाना है जिनसे कि केवल निर्धन किसानों को ही इनका लाभ मिले। 1960 के दशक के अंत तक देश में कृषि उत्पादकता की वृद्धि से भारत खाद्यान्नों में आत्मनिर्भर हो गया। यह निश्चय ही गौरवपूर्ण उपलब्धि रही है। इसके बावजूद, नकारात्मक पहलू यह रहा है कि 1990 तक भी देश की 65 प्रतिशत जनसंख्या कृषि में लगी थी। अर्थशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि जैसे-जैसे देश संपन्न होता है, सकल घरेलू उत्पाद में, कृषि के योगदान में और उस पर निर्भर जनसंख्या में पर्याप्त कमी आती है। भारत में 1950-90 की अवधि में यद्यपि जी-डी-पी- में कृषि के अंशदान में तो भारी कमी आई है, पर कृषि पर निर्भर जनसंख्या के अनुपात में नहीं (जो 1950 में 67-50 प्रतिशत थी और 1990 तक घटकर 64-90 प्रतिशत ही हो पाई)। इस क्षेत्रक में इतनी उत्पादन वृद्धि तो न्यूनतम श्रम के प्रयोग द्वारा भी संभव थी, फिर इस क्षेत्रक में इतनी बड़ी संख्या में लोगों के लगे रहने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यही है कि

उद्योग क्षेत्रक और सेवा क्षेत्रक, कृषि क्षेत्रक में काम करने वाले लोगों को नहीं खपा पाए। अनेक अर्थशास्त्री इसे 1950-90 के दौरान अपनाई गई नीतियों की विफलता मानते हैं।

कीमतें-संकेतकों के रूप में

यह समझना आवश्यक है कि कीमतें वस्तुओं की उपलब्धता का संकेतक हैं। यदि कोई वस्तु दुर्लभ हो जाती है तो सकी कीमत बढ़ जाती है और कीमतों के आधार पर, उसके प्रयोग के संबंध में सही निर्णय लेने की इसके उपभोक्तओं को प्रेरणा मिलती है। जब भी पेट्रोल की कीमतें बढ़ती हैं तो हम शिकायत करते है और सरकार पर दोषारोपण करते हैं। परंतु, पेट्रोल की कीमत में वृद्धि इसकी अधिक कमी को दर्शाती है और कीमत वृद्धि इस बात का संकेतक है कि पेट्रोल कम मात्र में उपलब्ध है- यह पेट्रोल का कम उपयोग करने और वैकल्पिक ईंधनों की तलाश की प्रेरणा देता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि अनुदान, कीमतों को वस्तु की पूर्ति का संकेत नहीं होने देती है। जब बिजली और पानी को अनुदानित दरों पर या निःशुल्क प्रदान किया जाता है तो उनकी कमी का ध्यान रखे बिना, उनका फिजूल उपयोग किया जाएगा। यदि पानी निःशुल्क प्रदान किया जाएगा तो किसान पानी प्रधान फसलें उगाएँगे, भले ही उस क्षेत्र में जल संसाधनों की कमी हो और इन फसलों से दुर्लभ संसाधन भी कम हो जाएँगे। यदि पानी की कीमत दुर्लभता के अनुसार निर्धारित की जाए, तो किसान क्षेत्र के अनुकूल उपयुक्त फसलें उगाएँगे। उर्वरक कीटनाशकों पर अनुदान प्राप्त संसाधनों का प्रयोग बढ़ाएगी, जो पर्यावरण के लिए हानिकारक हो सकता है। सहायिकी (अनुदान) से फिजूल उपयोग को बढ़ावा मिलता है।

उद्योग और व्यापार

अर्थशास्त्रियों ने ऐसा पाया है कि निर्धन राष्ट्र तभी प्रगति कर पाते हैं जब उनमें अच्छे औद्योगिक क्षेत्रक होते हैं। उद्योग रोजगार उपलब्ध कराते हैं और यह कृषि में रोजगार की अपेक्षा अधिक स्थायी होते हैं। इनसे आधुनिकीकरण और समग्र समृद्धि को बढ़ावा मिलता है। इन्हीं कारणों से हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक विकास पर अत्यधिक बल दिया गया था। स्वतंत्रता के समय भारत में बहुत कम उद्योग थे। अधिकांश उद्योग सूती वस्त्र, पटसन आदि तक ही सीमित थे। जमशेदपुर और कोलकाता में लोहा व इस्पात की सुप्रबंधित फर्में थीं।

यदि अर्थव्यवस्था का विकास करना था, तो हमें ऐसे औद्योगिक आधार का विस्तार करने की आवश्यकता थी जिसमें विविध प्रकार के उद्योग हों।

भारतीय औद्योगिक विकास में सरकार और निजी क्षेत्र

हमारे नीति-निर्माताओं के समक्ष एक बहुत बड़ा प्रश्न यह था,कि औद्योगिक विकास में सरकार और निजी क्षेत्रक की क्या भूमिका होनी चाहिए?

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत के उद्योगपतियों के पास भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास हेतु उद्योगों में निवेश करने के लिए अपेक्षित पूँजी नहीं थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय इतना बड़ा बाजार भी नहीं था, जिसमें उद्योगपतियों को मुख्य परियोजनाएँ शुरू करने के लिए प्रोत्साहन मिलता। यद्यपि उनके पास ऐसा करने के लिए पूँजी भी थी। इन्हीं कारणों से सरकार को औद्योगिक क्षेत्र को प्रोत्साहन देने में व्यापक भूमिका निभानी पड़ी। इसके अतिरिक्त, भारतीय अर्थव्यवस्था को समाजवाद के पथ पर अग्रसर करने के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह निर्णय लिया गया कि सरकार अर्थव्यवस्था में बड़े तथा भारी उद्योगों का नियंत्रण करेगी। इसका अर्थ यह था कि सरकार उन उद्योगों पर पूरा नियंत्रण रखेगी, जो अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण थे। निजी क्षेत्रक की नीतियाँ सार्वजनिक क्षेत्रक की नीतियों की अनुपूरक होंगी और सार्वजनिक क्षेत्रक अग्रणी भूमिका निभायेगा।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956

भारी उद्योगों पर नियंत्रण रखने के सरकार के लक्ष्य के अनुसार औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 को अंगीकार किया गया। इस प्रस्ताव को द्वितीय पंचवर्षीय योजना का आधार बनाया गया। द्वितीय योजना में ही समाज के समाजवादी स्वरूप का आधार तैयार करने का प्रयास किया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार, उद्योगों को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया। प्रथम वर्ग में वे उद्योग शामिल थे, जिन पर सरकार का अनन्य स्वामित्व था। दूसरे वर्ग में वे उद्योग शामिल थे, जिनके लिए निजी क्षेत्र, सार्वजनिक क्षेत्र के साथ मिल कर प्रयास कर सकते थे, परंतु जिनमें नई इकाइयों को शुरू करने की एकमात्र जिम्मेदारी राज्य की होती। तीसरे वर्ग में वे उद्योग शामिल थे, जो निजी क्षेत्रक के अंतर्गत आते थे। यद्यपि निजी क्षेत्र में आने वाले उद्योगों का भी एक वर्ग था, लेकिन इस क्षेत्र को लाइसेंस पद्धति के माध्यम से राज्य के

नियंत्रण में रखा गया। नये उद्योगों को तब तक अनुमति नहीं दी जाती थी, जब तक सरकार से लाइसेंस नहीं प्राप्त कर लिया जाता था। इस नीति का प्रयोग पिछड़े क्षेत्रें में उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए किया गया। यदि उद्योग आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रें में लगाए गए, तो लाइसेंस प्राप्त करना आसान था। इसके अतिरिक्त, उन इकाइयों को कुछ रियायतें जैसे, कर लाभ तथा कम प्रशुल्क पर बिजली दी गई। इस नीति का उद्देश्य क्षेत्रीय समानता को बढ़ावा देना था। यहाँ तक कि विद्यमान उद्योग को भी उत्पादन बढ़ाने या विविध प्रकार के उत्पादन (वस्तुओं की नई किस्मों का उत्पादन) करने के लिए लाइसेंस प्राप्त करना होता था। इसका अर्थ यह सुनिश्चित करना था कि उत्पादित वस्तुओं की मात्र अर्थव्यवस्था द्वारा अपेक्षित मात्र से अधिक न हो। उत्पादन बढ़ाने का लाइसेंस केवल तभी दिया जाता था, जब सरकार इस बात से आश्वस्त होती थी कि अर्थव्यवस्था में बड़ी मात्र में वस्तुओं की आवश्यकता है।

लघु उद्योगः 1955 में ग्राम तथा लघु उद्योग समिति, जिसे कर्वे समिति भी कहा जाता था, ने इस बात की संभावना पर विचार किया कि ग्राम विकास को प्रोत्साहित करने के लिए लघु उद्योगों का प्रयोग किया जाए। लघु उद्योग की परिभाषा किसी इकाई की परिसंपत्तियों के लिए दिये जाने वाले अधिकतम निवेश के संदर्भ में दी जाती है। समय के साथ-साथ निवेश की सीमा भी बदलती रही है। 1950 में लघु औद्योगिक इकाई उसे कहा जाता था, जो पाँच लाख रु- का अधिकतम निवेश करती थीं। इस समय, एक करोड़ रु का अधिकतम निवेश किया जा सकता है। ऐसा माना जाता था कि लघु उद्योग अधिक श्रम-प्रधान होते हैं, अर्थात् उनमें बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा श्रम का प्रयोग अधिक किया जाता है। अतः वे अधिक रोजगारों का सृजन करते हैं। लेकिन, ये बड़ी औद्योगिक फर्मों के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते। यह स्पष्ट है कि लघु उद्योगो के विकास के लिए बड़ी फर्मों से उनकी रक्षा किये जाने की आवश्यकता है। इस उद्देश्य के लिए, अनेक उत्पादों को लघु उद्योग के लिए आरक्षित कर दिया गया। ऐसे आरक्षण की कसौटी यह थी कि ये इकाइयाँ उन वस्तुओं के विनिर्माण के योग्य हैं। उन्हें अन्य रियायतें भी दी गई थीं जैसे, कम उत्पाद शुल्क तथा कम ब्याज दरों पर बैंक-ऋण।

व्यापार नीति_ आयात प्रतिस्थापन

औपनिवेशिक शासन के लगभग दो सौ वर्षो के बाद, भारत को में स्वतंत्रता मिली जो ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ व्यापार संबंधों के साथ शुरू हुआ था। इसलिए, हमारे योजनाकारों के लिए विदेशी व्यापार के प्रति संदेहपूर्ण रवैया रखना स्वाभाविक था भारत द्वारा अपनाई गई प्रारंभिक योजनाओं में अपनाई गई व्यापार नीति अंतर्मुखी थी। जिसने विदेशी व्यापार को हतोत्साहित किया, विशेष रूप से आयात को. तकनीकी रूप से इस नीति को आयात-प्रतिस्थापन कहा जाता है। इस नीति का उद्देश्य घरेलू उत्पादन द्वारा आयात को प्रतिस्थापन पूर्ति करना है। उदाहरण के लिए, विदेश में निर्मित वाहनों का आयात करने के स्थान पर उन्हें भारत में ही निर्मित करने के लिए उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाय। इस नीति के अनुसार, सरकार ने विदेशी प्रतिस्पर्धा से घरेलू उद्योगों की रक्षा की। आयात संरक्षण के दो प्रकार थेः प्रशुल्क और कोटा। प्रशुल्क, आयातित वस्तुओं पर लगाया गया कर है। प्रशुल्क लगाने पर आयातित वस्तुएँ अधिक

महँगी हो जाती हैं, जो वस्तुओं के प्रयोग को हतोत्साहित करती हैं। कोटे में वस्तुओं की मात्र निर्दिष्ट की होती है, जिन्हें आयात किया जा सकता है। प्रशुल्क और कोटे का प्रभाव यह होता है कि उनसे आयात प्रतिबंधित हो जाते हैं और उनसे विदेशी प्रतिस्पर्धा से देशी फर्मों की रक्षा होती है। संरक्षण की नीति इस धारणा पर आधारित थी कि देश के उद्योग अपनी प्रारंभिक अवस्था में थे और तकनीकी रूप से बेहतर, विकसित देशों द्वारा उत्पादित वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा करने की स्थिति में असमय खत्म हो जाते । यह माना जाता था कि यदि घरेलू उद्योगों का संरक्षण किया जाता है, तो समय के साथ वे प्रतिस्पर्धा करना भी सीख लेंगे। घरेलू खिलाड़ियों को एक खेल का मैदान देना आवश्यक था। हमारे योजनाकारों को भी यह आशंका थी कि यदि आयातों पर प्रतिबंध लगाया जाता था तो विलासिता की वस्तुओं के आयात पर विदेशी-मुद्रा खर्च होने की संभावना बढ़ जाती। 1980 के दशक के मध्य तक निर्यात-संवर्धन पर कोई गंभीर विचार नहीं किया गया था।

औद्योगिक क्षेत्रक की उपलब्धियाँ

प्रथम सात पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान भारत के औद्योगिक क्षेत्र की उपलब्धियाँ वस्तुतः उल्लेखनीय रही हैं। औद्योगिक क्षेत्र द्वारा प्रदत्त सकल घरेलू उत्पाद का अनुपात 1950-51 में 11.8 प्रतिशत से बढ़कर 1990-91 में 24.6 प्रतिशत और 2015-16 में 29.6 प्रतिशत हो गया।

जीडीपी में उद्योग की हिस्सेदारी में वृद्धि विकास का एक महत्वपूर्ण संकेतक है और भारत के सकल घरेलू उत्पाद के क्षेत्रीय संरचना में सकारात्मक बदलाव को दर्शाता है। अब भारतीय उद्योग मोटे तौर पर सूती वस्त्र और जूट तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः औद्योगिक क्षेत्रक प्रायः सार्वजनिक क्षेत्र के कारण विविधतापूर्ण बन गया था। लघु उद्योगों के संवर्धन से उन लोगों को अवसर प्राप्त हुए जिनके पास व्यवसाय में प्रवेश करने केलिए बड़े फर्मों को प्रारंभ करने हेतु पूँजी नहीं थी।

विदेशी प्रतिस्पर्धा के प्रति संरक्षण से उन इलेक्ट्रोनिकी व ऑटोमोबाइल क्षेत्रो में देशी उद्योगों का विकास हुआ, जिनका विकास अन्यथा संभव नहीं था। भारतीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि में सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा किए गए योगदान के बावजूद कुछ अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक क्षेत्र के अनेक उद्यमों के निष्पादन की कड़ी आलोचना की है।

1950 के दशक में,सार्वजनिक क्षेत्र को उम्मीद थी कि वह अर्थव्यवस्था को "उल्लेखनीय उच्च स्तर" तक ले जाएगा। यह भी महसूस किया गया कि उस समय निजी क्षेत्र के पास पर्याप्त पूंजी और तकनीक नहीं थी। इसलिए, यह आवश्यक थासार्वजनिक क्षेत्र के लिए औद्योगिक विकास की दर में तेजी लाने के लिए निजी क्षेत्र के पूरक हैं।अब यह व्यापक रूप से माना जाता है कि राज्य-उद्यम कुछ वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करना जारी रखते हैं,जबकि उन्हें अब सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा उत्पादित किए जाने की आवश्यकता नहीं थी। दूरसंचार सेवा का प्रावधान किया जाना इसका उदाहरण है। इस उद्योग को सार्वजनिक क्षेत्र में आरक्षण प्रदान किया गया जबकि कि निजी क्षेत्र के फर्म भी उपलब्ध करा सकते हैं। 1990 के दशक के अंत तक भी प्रतिस्पर्धा न होने के कारण व्यक्ति को टेलीफोन कनेक्शन लेने में लंबे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।

इसी तरह, सार्वजिक क्षेत्र द्वारा ब्रेड या होटल और रेस्तरां चलाने जैसी साधारण चीजों के उत्पादन (ज्यादा पूंजी और उच्चतर तकनीक की आवश्यकता नहीं) को शायद ही उचित ठहराया जा सकता है। इसके कारण कुछ विद्वानों का तर्क है कि राज्य को उन क्षेत्रों से बाहर निकलना चाहिए जिनका निजी क्षेत्र प्रबंधन कर सकते हैं और सरकार अपने संसाधनों को उन महत्वपूर्ण सेवाओं पर ध्यान केंद्रित करें जो निजी क्षेत्र प्रदान नहीं कर सकता है। इसके अलावा,कई

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम भ्रष्टाचार, अति-कर्मचारी, लालफीताशाही औरजवाबदेही की कमी, और अक्षमता जैसी समस्याओं से ग्रसित थे। इसके कारण बीमार इकाइयों का निर्माण हुआ, जिससे अर्थव्यवस्था के संसाधनों पर बोझ बढ़ गया। लाइसेंस कोटा परमिट राज ने अर्थव्यवस्था को बोझिल बना दिया, और प्रतिस्पर्धा और दक्षता को ख़त्म कर दिया। इससे लालफीताशाही को भी बढ़ावा मिला। निवेशकों का बहुत समय उत्पादक गतिविधियों पर उपयोग करने के बजाय लाइसेंस और अनुमति आदि प्राप्त करने में बर्बाद हो गया।

1950 के दशक में भारतीय उद्योग के शैशवावस्था के आधार पर शुरू किए गए उद्योगों का संरक्षण कुछ वर्षों के लिए था, लेकिन इसे लंबे समय तक चलाया गया और औद्योगिक खिलाड़ियों को मौजूदा स्तर की लागतों पर ही संतुष्ट कराया गया, जिसमें अधिक दक्ष बनने की कोई प्रेरणा नहीं थी। आयात प्रतिस्पर्धा हमारे उत्पादकों को अधिक कुशल होने के लिए बाध्य करती है। इस प्रकार, यह माना जाता था कि समय के इस मोड़ पर संरक्षण, लाभ से अधिक हानि पहुँचा रहा था। कुछ अर्थशास्त्री यह भी बताते हैं कि सार्वजनिक क्षेत्र मुनाफा कमाने के लिए नहीं बल्कि राष्ट्र के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए है। सार्वजनिक क्षेत्र की फर्मों का इस दृष्टिकोण पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए कि वे किस हद तक लोगों के कल्याण में योगदान करती हैं न कि उनके द्वारा अर्जित मुनाफे पर। संरक्षण के संबंध में, कुछ अर्थशास्त्री मानते हैं कि विकसित देश भी विदेशी प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध अपने उद्योगों की रक्षा करते हैं, इसलिए, अपने घरेलू उत्पादकों को एक स्तर का खेल क्षेत्र प्रदान करने के लिए, हमें भी ऐसा ही करना चाहिए। उसी के मद्देनजर, वर्ष 1991 में शुरू किए गए आर्थिक सुधारों के साथ उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के नए युग की शुरुआत हुई।

निष्कर्ष

निष्कर्ष 1950 से पहले की अवधि की तुलना में 1950-90 की अवधि निस्संदेह एक सराहनीय सफलता थी, 1980 के दशक के दौरान विकास की दर की बाधा (विकास की बहुत कम दर- 1950-1980 के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था 3.5 प्रतिशत प्रति वर्ष) पहली अर्ध शताब्दी जिस के दौरान अर्थव्यवस्था की विकास दर 1 प्रतिशत से कम थी,को तोड़ दिया। हमारे उद्योग स्वतंत्रता की स्थिति की तुलना में कहीं अधिक विविधता पूर्ण हो गए। हरित क्रांति की बदौलत भारत खाद्य उत्पादन में आत्मनिर्भर हुआ। भूमि सुधार के परिणामस्वरूप घृणित जमींदारी प्रथा का

उन्मूलन हुआ। हालांकि, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों द्वारा निभाई गई भूमिका विवादस्पद थी। अत्यधिक सरकारी नियमन ने उद्यमशीलता की वृद्धि को रोक दिया। अंतर्मुखी आयात प्रतिस्थापन नीति, भी विवादस्पद रही है, विशेष रूप से चार एशियाई बाघों - दक्षिण कोरिया, सिंगापुर, ताइवान और हांग कोग द्वारा दर्ज सफलता की कहानियों के बाद। 1991 की आर्थिक सुधारों को शुरू करने के समय इन चिंताओं का सबसे अधिक ध्यान रखा गया था।